Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 2 | Issue 3 | (July – Sep 2025)

भक्तिकालीन काव्यचिंतन के परिप्रेक्ष्य में कबीर एवं तुलसी का काव्य

डॉ० प्रदीप कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, डी०ए-वी० कॉलेज कानपुर

सारांश:

भक्ति आंदोलन का विकास उत्तर भारत में तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य प्रमुख रूप से देखने को मिलता है। इसके पहले, दक्षिण भारत में छठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक भक्ति आंदोलन आध्यात्मिक-धार्मिक मान्यताओं का केंद्र रह चुका था। भक्तिकाव्य का स्वाभाविक विकास शास्त्र से लोकोन्मुखी जीवन की ओर रहा है। वृहत् स्वरूप में अवलोकन करने पर पता चलता है कि भक्तिदर्शन के मूल में शास्त्रीय भाषा संस्कृत में निबद्ध धार्मिक व आध्यात्मिक मान्यताएँ थीं, जिसके प्रणेता शंकर, यामुन, रामानुज, रामानंद, वल्लभ, माध्व व विष्णुस्वामी इत्यादि आचार्य थे। इन आध्यात्मिक आचार्यों की शिष्य परंपरा में कबीर, नानक, रैदास, दादू, तुलसी, सूर, नंददास आदि लोकधर्मी भक्तकवि हुए। भक्तकवि शास्त्र से इतर लोक को अपनी रचना चिंतन के केंद्र में रखते हैं। इन्होंने लोक बोली में लोक चिंतन का महत्त्वपूर्ण आख्यान रचा है। काव्य शास्त्रीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाव्य का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि सूर, नंददास, ध्रुवदास आदि कवियों ने रस, ध्वनि, अलंकार, गुण-दोष, नायिकाभेद का विवेचन कतिपय अंशों में किया है। तुलसी काव्य में काव्यांगों का सिद्धहस्त प्रयोग दिखाई पड़ता है। कबीरकाव्य में शास्त्रीय संदर्भों के प्रयोग के विषय में हिंदी आलोचना-जगत व्यापक असहमतियों की तीखी बहस का साक्षी रहा है। इन आलोचकीय मान्यताओं के इतर, रचना केंद्रित पाठ के आग्रह पर कबीर व तुलसी के काव्य में काव्य शास्त्रीय चिंतन की क्रमशः लोक व शास्त्रीय प्रणाली का सुस्पष्ट निर्वहन देखा जा सकता है।

बीजशब्द:- काव्यश्री, आलोचकीय आयाम, विपर्यय, थिंती, विप्रमतीसी, लोकवृत्त, स्वांत: सुखाय, अहंनिष्ठ वैयक्तिकता, भावोत्कर्ष, गौण प्रयोजन।

शोध विस्तार:-

हिंदी साहित्य में भक्तिकाल को भावयुग के नाम से जाना जाता है। भक्ति, भाव, धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना संत-भक्तिकाव्य के मूल में थी। कविता उनके लिए आध्यात्मिक-सामाजिक भक्ति भावों के प्रकाशन का उपकरण मात्र थी। भक्तिकालीन काव्य का प्रधान लक्ष्य भक्ति होने के कारण इन कवियों ने साहित्य की भाव-संपदा को अतिशय विस्तार देकर भक्ति, अध्यात्म व समाज-चेतना को जनमानस के हृदयतल पर स्थापित कर दिया। संत-भक्त कवियों ने काव्य की विषय वस्तु को वैविध्यपरक रूप देते हुए धर्म, अध्यात्म, समाज, नीति व लोकजीवन के बहुविध आयाम उसमें समाहित कर लिए हैं।

भक्तिकालीन कवि साहित्य के रूप व निर्मिति पक्ष को उपकरण मात्र मानते हुए उसे सहायक भूमिका में रखते हैं। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि भक्तिकालीन साहित्य का रूपपक्ष कहीं से ऊँचा या कमज़ोर है। यहाँ पर तुलसी व कबीर की समृद्ध भावचेतना लोक-शास्त्र के सामंजस्य बिंदु पर आकर रूपपक्ष को ग्रहण करती है। 'कलम गह्यो नहिं हाथ' कहने वाले कबीर तथा 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ' कहने वाले तुलसी, दोनों ही शास्त्रीय पद्धति का व्यावहारिक प्रयोग करके अतिशय समृद्ध काव्य रचना करते हैं।

संत-भक्त कवियों के काव्य में पारंपरिक संस्कृत काव्यचिंतन के स्वतंत्र रूप का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। इसके प्रमुख रूप से दो कारण हैं-

प्रथम, संत-भक्त कवियों का काव्य भावप्रवण था। उसी भावप्रवणता की अभिव्यक्ति हेतु वे विषय वस्तु को माध्यम बनाया करते थे। समृद्ध भाव विषयवस्तु की सहायता से जन-जन तक सहज संप्रेषण हो जाता था। इस लिए उन्हें काव्यशास्त्रीय चिंतन व रूपपक्ष के विवेचन की आवश्यकता ही न पड़ी। समृद्ध भावप्रवणता को प्रधान मानने के कारण ही भक्तिकाव्य में रूपपक्ष की उपेक्षा भी हुई।

द्वितीय, श्रुति-परंपरा में ज्ञानार्जन ही वहाँ प्रधान रहा है। यह भी पूरा सत्य नहीं है कि संत-भक्तकवियों में काव्यचिंतन का सर्वथा अभाव है। संत-भक्तकवियों के काव्य में काव्यचिंतन आनुषंगिक टिप्पणियों के रूप में दिखाई पड़ता है। उनके काव्यग्रंथों में काव्यशास्त्रीय लक्षणों का कुशल समाहार करके काव्यश्री को समृद्ध किया गया है। इन्हीं ग्रंथों में की गई स्वतंत्र टिप्पणियाँ उनके काव्यशास्त्रीय लक्षण-ज्ञान व उसके सिद्धहस्त प्रयोग की परिचायक हैं।

भक्तकवियों के काव्यचिंतन की तुलना छायावाद-चतुष्टयी के काव्यचिंतन से की जा सकती है। प्रसाद ने 'काव्यकला तथा अन्य निबंध', निराला ने 'पंत और पल्लव', पंत ने 'पल्लव की भूमिका', महादेवी वर्मा ने निबंधों में, प्रेमचंद ने संपादकीय लेखों में, महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवि और कविता' तथा 'कवि कर्तव्य', और आचार्य शुक्ल ने अपने निबंधों में समकालीन आलोचना का भाष्य रच डाला है।

संत-भक्तकवियों ने भी अपने महाकाव्यों में काव्यशास्त्रीय लक्षणों पर स्वतंत्र टिप्पणियों के माध्यम से संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से हिंदी की ओर विकासोन्मुख काव्यशास्त्रीय लक्षणों का स्पष्ट कथन किया है। इसके साथ ही उन काव्यलक्षणों का उपादान रूप में सफल व संतुष्ट प्रयोग भी किया है, जिससे भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल सिद्ध होता है।

संत-भक्तकवियों ने रीतिपरंपरा में काव्यशास्त्रीय लक्षण व उदाहरण परंपरा की व्यवस्थित पृष्ठभूमि तैयार की थी। भक्तिकाल में लक्षण व उदाहरण की परंपरा में सूरदास की साहित्य लहरी तथा अन्य कृष्ण भक्तकवियों की रचनाएँ आती हैं। सूफ़ी व रामभक्त कवियों ने भी कतिपय स्थानों पर काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। उनमें रीतिमुक्त कवियों के समान भावों की स्वच्छंद व उन्मुक्त उड़ान सर्वत्र दिखाई पड़ती है। अंतर यही है कि रीतिमुक्त कवियों का भाव उन्मुक्त व प्रेमपरक है तो संत-भक्तकवियों के भाव भक्ति, अध्यात्म, नीति व समाज चेतना का भाव-विह्वल संसार रचते हैं।

संत-भक्त कवियों के काव्यशास्त्रीय विवेचन को समझने के लिए भक्तिकालीन पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय परंपरा को भी समझना आवश्यक है। भक्ति काल से पूर्व, संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में व्यापक व विशद विवेचन दिखाई पड़ता है। इसी का विकास आगे चलकर पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में सिद्ध हेमचंद्र, वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, बौद्ध कोश निघंटु, पाइअलच्छी नाममाला (धनपाल), तिलकमंजरी तथा देशीनाममाला (हेमचंद्र) जैसे ग्रंथों में प्रकृष्ट काव्यचिंतन के रूप में परिलक्षित होता है।

इनमें कतिपय अंशों में आचार्य भरत, भामह, दंडी तथा कुंतक की समृद्ध काव्यशास्त्रीय परंपरा का विस्तार व स्वतंत्र विवेचन भी दिखाई देता है, जिसे हिंदी काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के रूप में पहचाना जा सकता है। भक्तिकाल के परवर्ती रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय निरूपण में सर्वांग, विशिष्टांग तथा लक्षण विवेचन की परंपरा स्पष्ट रूप से देखी जाती है। पुनर्जागरण और नवजागरण के प्रभाव स्वरूप भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युगीन हिंदी काव्य में सामाजिक सुधार परक रचना की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से सामने आती है।

भारतेंदु युग के पश्चात पाश्चात्य प्रभाव, ब्रिटिश शासन तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के समवेत प्रभाव के चलते भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन में आधुनिकता का व्यापक प्रसार विशेषतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रारंभ होता है।

आगे चलकर यह प्रवृत्ति शिवदान सिंह चौहान, अज्ञेय, मुक्तिबोध, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा तथा मैनेजर पाण्डेय जैसे आलोचकों में अपने बहुविध आलोचकीय आयामों के साथ विकसित होती है।

पुनः लौटकर संत-भक्तकवियों में से गोस्वामी तुलसीदास और कबीर के काव्य चिंतन पर विचार करते हैं। भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा के अधिकांश कवि शास्त्रविद्या में अपढ़, किंतु व्यावहारिक ज्ञान में बहुश्रुत एवं अनुभवशील थे। वे 'मसि कागद छुयो नहिं, कलम गह्यो नहिं हाथ' की स्पष्ट घोषणा करते हुए अनुभव की प्रधानता स्वीकार करते हैं। अनुभवजन्य बानियों में वे अत्यंत मार्मिक और तल्ख लहजे में समाज-व्यवस्था का सच उजागर करते हैं।

कबीर के काव्य में अनुभूति का काव्यात्मक रचाव तीन प्रमुख रूपों में दिखाई पड़ता है:

प्रथम, प्रणय-अनुभूति के रूप में सूफियों के प्रभाव से प्रेरित प्रेम-साधना का निरूपण मिलता है। वे जीवात्मा को प्रियतमा और परमात्मा को प्रियतम मानकर अपनी प्रणयानुभूति का प्रकाशन करते हैं। उनका भक्त-साधक प्रियतम से मिलकर एकाकार होना चाहता है। वे परम प्रियतम को साईं, बाल्हा, दूल्हा, हरि, पीव, भरतार, राम, कंत आदि नामों से पुकारते हैं। प्रियतम से मिलने की तीव्र आकांक्षा उन्हें विरहाग्नि में जलने को विवश कर देती है। प्रियतम की प्राप्ति पर वे उल्लसित होकर चहक उठते हैं।

द्वितीय, कबीर की अनुभूति का दूसरा तत्व है संसार की नश्वरता का बोध। उनके अनुसार संसार परिवर्तनशील और अस्थिर है। यौवन का आकर्षण क्षणिक है। शक्ति और वैभव का खेल थोड़े समय का है। महल सूने हो जाते हैं, उन पर कौवे बैठते हैं।

तृतीय, उनके काव्य की अनुभूति का तीसरा तत्व है मानव जीवन की सहजता का बोध कराना। इसके लिए वे अवतारवाद, जाति-पाति बहुदेववाद, धार्मिक भेदभाव, सांप्रदायिकता आदि सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का तीव्र विरोध करते हैं। उन्होंने वेदमार्ग तथा विकृत धर्म साधनाओं का खंडन कर सहज जीवन को केंद्र में रखा है। यही 'सहज' तत्व कबीर काव्य का प्राणतत्व है–

सहजौं सुमिरन कीजिए, हिरदै माँहि छिपाई।

होंठ-होंठ सूँ न मिलि सकै, नहिं कोई पाई।

कबीर ने सैद्धांतिक रूप में काव्य स्वरूप का निदर्शन नहीं कराया है। अपितु वे सहज रूप में प्रकट हो गई हैं। कबीर के अनुसार जनसाधारण के आखर वचन में रससिद्ध कविजन उक्तियों का लावण्य मिला देते हैं और अमृतमयी काव्य बन जाता है। सहृदयता पूर्वक विचार करने पर यहाँ दो काव्यशास्त्रीय परिभाषाओं 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्दम् काव्यम्' (आचार्य जगन्नाथ) तथा 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' (आचार्य विश्वनाथ) का अद्भुत मिश्रण है। वे कविता में जनसाधारण की अनुभूति व कवि की उक्तियों के लावण्य दोनों को प्रधान मानते हैं-

सोई आखर सोई बैन, जन जू जुवा चुअंत।

एकैं आखर मेलैं लवनि,अमी रसाइन हंत।।

प्रो० पारसनाथ तिवारी लिखते है कि- "प्रो० रामचंद्र श्रीवास्तव ने कबीर-साखी-सुधा में यह मान्यता स्थापित की है कि हिंदी में यह काव्य की प्राचीनतम परिभाषा है। जिसे कवि मानने में लोगों को संकोच हो रहा था, उसकी वाणी पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने पर उसमें से काव्य की परिभाषा निकल आई और जब तक हिंदी में काव्य की प्राचीनतर परिभाषा नहीं मिल जाती तबतक इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक इसे उसकी प्राचीनतर परिभाषा माननी ही पड़ेगी।"[1]

कबीर ने अलंकारों का प्रयोग साग्रह नहीं किया है। सहज रूप से उक्त उनकी वाणी में अलंकार बिना बुलाए आ गए हैं। कबीर काव्य में रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, विशेषोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, विभावना, आदि अलंकारों का सहज प्रयोग दिखाई पड़ता है। वर्ण्यवस्तु के वैशिष्ट्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए उपमा, वर्ण्यवस्तु के गुण-सौंदर्य को प्रभावपूर्ण, संगत व विश्वसनीय बनाने हेतु रूपक, अन्योक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष न कहीं जा सकने वाली बात को परोक्ष व प्रतीकात्मक ढंग से कहने के लिए दृष्टांत का प्रयोग वर्ण्यवस्तु की एकांत विशेषता को स्पष्ट करने हेतु, विरोधाभास का प्रयोग श्रोता को चमत्कृत करने हेतु किया गया है। अभिलाष दास ने डॉ० रामकुमार वर्मा के कथन को उद्धृत करते हुए कबीर काव्य में कल्पना का उत्कृष्ट नियोजन स्वीकार किया है- "कबीर की कल्पना के सारे चित्रों को समझने की शक्ति किसी में आ सकेगी अथवा नहीं। कबीर की बानी पढ़े जाने के बाद यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि कबीर के पास कुछ ऐसे चित्रों का कोश है, जिसमें हृदय में उथल-पुथल मचा देने की बड़ी भारी शक्ति है।"[2]

उक्तिवक्रता, विपर्यय, उलटबाँसियाँ भी कबीर काव्य का प्राण तत्व हैं। लोकतत्व का अतिक्रमण करने वाली उक्ति वक्रोक्ति है। इसके मूल में दो भावनाएँ कार्य करती हैं- एक जिज्ञासा जगाने की भावना।

द्वितीय– आध्यात्मिक तथ्य को आध्यात्मिक शैली में व्यक्त करने की भावना।

काव्यरुप व छंदविधान की दृष्टि से देखने पर साखी, सबदी, रमैनी, चौंतीसा, बावनी, वार, थिंती, चाँचर, बसंत, हिंडोला, बेलि, विप्रमतीसी, कहरा, बिरहुली, इन चौदह काव्यरूपों का प्रयोग किया है। ये काव्यरुप सिद्धों तथा योगियों की परंपरा तथा लोकतत्व से प्राप्त हुए। साखी का अपभ्रंश गोरखपंथी योगियों से सबद गेयपद रूप में ब्रह्मतत्त्व विचार, चर्यापद, वज्रगीति सिद्धों व योगियों से, रमैनी में दोहा-चौपाई छंदों का सम्मिलित प्रयोग, भविष्ययत्तकहा से थिंती-वार महीने की तिथियों व वार के दिनों का उल्लेख करते हुए ज्ञानपरक उपदेश, चाँचर प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य से, वसंत लोकगीतों से, हिंडोला तथा कहरा गेयपदरूप, बेलि लता के रूप में विकसित होने वाला राजस्थानी काव्यरुप, बिरहुली साँप का विष उतारने वाला मंत्र तथा विप्रमतीसी विप्रों की मति का विवेचक काव्यरूप है। कबीर के काव्यरुप व छंद विधान पर डॉ० श्यामसुंदर दास की मान्यता सभी साहित्यचिंतकों को स्वीकार्य है- "डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया,वहीं ठीक था।मात्राओं के घट-बढ़ जाने की चिंता करना व्यर्थ था।पर साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी, उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिए शब्द की मात्रा गिनने की आवश्यकता न थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बात कहने की आवश्यकता थी,जो सुनने वाले के हृदय में पैठ जाएँ और पैठकर जम जाएँ।"[3]

प्रतीक के द्वारा अदृश्य,अगोचर, अप्रस्तुत को गोचर, प्रस्तुत व दृश्य बनाकर काव्य में लाया जाता है। कबीर की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ गुह्य हैं, जिन्हें बोधगम्य बनाने के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है-

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानीं, तेरे ही नालि सरोवर पानी।।

कबीरदास हिंदी के अप्रतिम व्यंग्यकार हैं। वस्तुत: व्यंग्य कबीर काव्य का गौरवप्रदायक अंश है। कबीर काव्य के इसी वैशिष्ट्य को चिह्नित करते हुए आचार्य द्विवेदी ने उन्हें अब तक का जबर्दस्त व्यंग्य लेखक कहा है। उनका व्यंग्य सुनकर जवाब देते नहीं बनता, धूल झाड़कर चलने के अलावा।और वह अधरोष्ठों में हँसते रहते हैं।

कबीर की सबदियों में संगीत तत्व प्रधान है। कबीर को तत्कालीन वाद्यों की बनावट का ज्ञान था। अपने को संगीत की स्वरलहरियों में खो देने की शक्ति, उन्होंने पूर्ववर्ती सिद्धों व योगियों से प्राप्त की थी। कबीर की वाणी का नाद तत्व उसका परिचायक है।

कबीर की भाषा का विवेचन करते हुए उनकी भाषा विषयक दृष्टि को भी समझा जा सकता है। कबीर की भाषा का विवेचन तीन संदर्भों में संभव है- काव्योचित भाषा की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि कबीरदास कविता के अनुगामी नहीं थे कविता उनकी अनुगामिनी थी। कबीर की भाषा सरल, सुबोध व खरापन लिए है। भाषा अटपटी, अव्यवस्थित तथा व्याकरणिक दृष्टि से अस्थिर व अंग-भंग है। उनकी भाषा भावों का अनुगमन करती है। वैयाकरणिक संस्कारों से हीन तथा गँवारूपन होते हुए भी व्यंग्य की जीवंतता से युक्त है।भाषा के कठोर बर्ताव पर ही आचार्य द्विवेदी ने उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' कहा। कबीर की भाषा विषयक द्वितीय दृष्टि है- जनवाणी की दृष्टि से उसका मूल्यांकन करना। जनवाणी के रूप में कबीर की भाषा संस्कृत के कूपजल को त्यागकर विभाषाओं के रूप में बहते नीर को अपनाती है। उन्होंने इन उपभाषाओं को ही धर्म व शास्त्र चर्चा की माध्यमभाषा बना लिया है। कबीर की भाषा का तीसरा संदर्भ भाषावैज्ञानिक है। इस संदर्भ में कबीर की भाषा की सर्वाधिक बड़ी समस्या प्रामाणिक पाठ की है। बीजक को कबीरवाणी का प्रामाणिक पाठ न मानकर आचार्य द्विवेदी इसका स्वरूप अठारहवीं शताब्दी के आसपास का मानते हैं।

कबीर की भाषा में ब्रज, अवधी, पंजाबी, खड़ी बोली, भोजपुरी, अरबी-फारसी, संस्कृत के शब्दों का प्रयोग है। भाव, पात्र, व विषयानुकूल प्रयोग के कारण उसे तत्कालीन हिंदी की विशिष्ट प्रयोग शैली की संज्ञा देना अधिक न्यायसंगत व वैज्ञानिक होगा। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि- "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है, बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर।"[4]

कबीर जहाँ यह घोषणा करते हैं कि 'मसि कागद छुयो नहिं,कलम गह्यो नहिं हाथ' वहीं यह भी लिखते हैं कि 'सात समुंदर मसि करौं'। लोकवृत में कबीर कवि ही नहीं संत के रूप में भी विख्यात थे। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' कहने वाले तुलसीदास की रचनाओं में रस, अलंकार की भरमार पाई जाती है। काव्यरसिकों व शास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि में शाबाशी पाने के लिए कबीर और तुलसी काव्य रचना नहीं कर रहे थे। प्रो० पुरुषोत्तम अग्रवाल कबीर के कवि रूप पर लिखते हैं कि- "कबीर की आत्मछवि कवि की नहीं है, लेकिन काव्यतत्व उनके पदों में फ़ोकट का माल नहीं, उनका स्वभाव है।वह अपने-आप बन गया है, क्योंकि कबीर जो कुछ देखते -दिखाते हैं, जो कुछ सुनाते हैं कवि की बोली में सुनाते हैं। इसलिए ऐसी स्थिति बनती है कि रचनाकार भक्त हैं लेकिन उसकी रचना कविता है।"[5]

डॉ० रामकुमार वर्मा कबीर को महाकवि मानते हुए कहते हैं कि- "कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की। उनकी काव्यानुभूति इतनी है कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छंद और अलंकार गौण हैं। संदेश प्रधान है। कबीर ने कविता में महान संदेश दिया है।"[6]

इसी रूप में आगे चलकर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी कबीर के कवित्व रूप को मान्यता प्रदान की है- "यदि कविता विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण और सरस अभिव्यक्ति मात्र है तो कबीर में कविता की कमी नहीं है और निस्संदेह अपनी इस विशेषता में वे किसी से कम नहीं हैं।"[7]

कबीर के विपरीत गोस्वामी तुलसीदास विविध शास्त्रों में पारंगत मनीषी थे। वे वेद-वेदांगों के साथ ही काव्यशास्त्र के भी व्यवस्थित अध्येता थे। उन्हें अच्छी और बुरी कविता की सम्यक पहचान थी। रामचरितमानस के आरंभ में विविध काव्यांगों का उल्लेख है-

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।।

भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोसगुन विविध प्रकारा।

अरथ अनूप सुझाव सुपासा। सोई पराग मकरंद सुवासा।।

धुनि अविरेब कवित गुन जाती। मीन मनोरथ ते बहुभाँती।।

कविता के तत्वों में वह अर्थ, अलंकृति, छंद, रीति, भाव, रस, दोष-गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि तत्वों की गणना करते हैं। वे रस को काव्य का प्राणतत्व मानते हुए भी रीति और अलंकार के महत्व को स्वीकार करते हैं। जिस तरह पुष्प में पराग, मकरंद में सुवास होती है। उसी प्रकार काव्य में अनेक प्रकार के अर्थ व्यंजित करने की क्षमता होती है।नवरस ही मानस के जलचर व ध्वनि मीन हैं। इस प्रकार वे रस और ध्वनि में घनिष्ठ संबंध मानते हुए रसध्वनि को भी मान्यता प्रदान करते हैं।

तुलसी के अनुसार उत्तम कविता वह है जो विद्वानों द्वारा सराही जाय। कविता का उद्देश्य गंगा के समान सबका हित होना चाहिए –

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम वृथा बालकवि करहीं।

कीरति भणिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

तुलसीदास आत्मनिष्ठ संत थे। वे बाह्य प्रलोभनों से मुक्त हो चुके थे। वे काव्य प्रयोजन की चर्चा करते हुए स्वांत: सुखाय को श्रेष्ठ प्रयोजन स्वीकार करते हैं-

स्वांत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा। भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति।

तुलसी के अनुसार कविता रूपी सुंदर मोती का जन्म तब होता है, जब सागर में पड़ी हुई बुद्धि रूपी सीप में श्रेष्ठ विचार रूपी स्वाति-जल शारदा जी कृपा से बरसता है-

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति शारदा कहहिं सुजाना।।

वर्तमान समकालीन कविता में अहंनिष्ठ वैयक्तिकता व सघन व्यक्तिपरकता एक अनिवार्य तत्व बन गई है। ऐसे में तुलसी की विनम्र स्वीकारोक्ति वर्तमान पीढ़ी के आत्ममुग्ध कवियों के लिए एक सीख है-

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहु लिखि कागद कोरे।।

तुलसी काव्य में सहृदय श्लाघ्य ध्वन्यर्थ, व्यंग्यार्थ, को अभिधेयार्थ से उत्कृष्ट मानते थे-

गिरा अर्थ जल वीचि समय कहियत भिन्न न भिन्न।।

तुलसी उच्चकोटि के कवि थे। उनकी कविता में काव्य कला के समस्त उपादान पूर्ण उत्कर्ष के साथ दिखते हैं। उनका भाव-रसनिरूपण अद्भुत है। श्रृंगार रस की भी मर्यादित व संयमित अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है-

राम को रूप निहारति जानकी। कंगन के नग की परछांहीं।।

यातै सबै सुधि भूलि गई।कर टेकि रही पल टारति नाहीं।।

गोस्वामी तुलसीदास ने कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान करके उनका विशद निरूपण किया है। उनका प्रबंध कौशल अद्वितीय बन पड़ा है। जनक-वाटिका में राम-सीता का प्रथम मिलन, चित्रकूट प्रसंग, भरत की आत्मग्लानि, राम वन गमन, राम-सुग्रीव मैत्री, लक्ष्मण शक्ति आदि ऐसे ही मार्मिक स्थल हैं। आचार्य शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास के काव्य सौष्ठव का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि- "रचनाकौशल प्रबंधपटुता, सहृदयता इत्यादि सभी गुणसौंदर्य का समाहार हमें रामचरितमानस में मिलता है। पहली बात जिसपर ध्यान जाता है वह यह है कि कथाकाव्य के

सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा काव्य या प्रबन्धकाव्य के भीतर इतिवृत्त,वस्तु व्यापार वर्णन, भावव्यंजना और संवाद ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाल-लीला, नख-शिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लंबे होने पाएं हैं, न पात्रों के संवाद, न प्रेम, शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की श्रृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।

दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है जो मनुष्यमात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले हैं जैसे जनक की वाटिका में राम-सीता का प्रथम दर्शन। राम वन-गमन, दशरथ मरण,भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध में लक्ष्मण की शक्ति लगना इत्यादि।

तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल-कठोर पदों की व्यंजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने इस बात को ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी व मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में द्रष्टव्य होती है।

चौथी बात है श्रृंगार की शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।"[8]

इस लंबे उद्धरण को रखने का उद्देश्य यह है कि यह उद्धरण गोस्वामी तुलसीदास की काव्य विषयक मान्यताओं का स्पष्ट सिद्धांत कथन ही नहीं करता है अपितु उनके विभिन्न काव्यग्रंथों में फैले हुए काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के व्यावहारिक अनुप्रयोग से विभिन्न काव्यांग विषयक उनकी मान्यताओं को भी स्पष्ट करता है।

तुलसी का ब्रज व अवधी पर समान अधिकार था। रामचरितमानस की रचना साहित्यिक अवधी में है तो रामाज्ञा प्रश्नावली,रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल,बरवै रामायण, अवधी में और विनय-पत्रिका, वैराग्य संदीपनी, गीतावली, दोहावली, श्रीकृष्ण गीतावली, कवितावली की रचना ब्रज में की गई है। रामचरितमानस हिंदी का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध काव्य विनय-पत्रिका, कवितावली प्रबंधात्मक-मुक्तक व दोहावली – वैराग्य संदीपनी इत्यादि श्रेष्ठ मुक्तक ग्रंथ हैं।

छंद व शैली की दृष्टि से सिद्धों-नाथों व कबीर के दोहे, सूर के विनयपद, चंद के छप्पय, विद्यापति के लीलागान,भविस्ययत्त कहा व ईश्वरदत्त की दोहा-चौपाई शैली, गंग आदि भाटकवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, रहीम के बरवै व लोककाव्य के सोहर का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है।

तुलसी अलंकारशास्त्र के पंडित थे। उन्होंने अलंकारों का उपयोग भावोत्कर्ष हेतु किया है-

पीपर पात सरिस मन डोला।। -उपमा

राम विरह सागर मँह ।भरत मगन मन होत।। -रूपक

बिनु पग चलइ सुनइ बिन काना।कर बिनु कर्म करइ विधि नाना।। -विभावना

भरतसिंह होई न राजमदु।विधि हरि हर पद पाई।।

कबहुँ कि काजी सींकरनि। क्षीरसिंधु बिनसाइ।। -दृष्टांत

सियमुख समता किमि करौं चंद वापुरो रंक।। प्रतीप

तुलसी ने बिंबयोजना द्वारा काव्य को चित्रात्मक एवं लोक ग्राही बनाने का सफल प्रयास किया है। विनय-पत्रिका के विविध पदों को संगीत की विविध राग-रागिनियों में गाया जा सकता है। उनका संपूर्ण काव्य गेयता के गुण सौंदर्य से संपन्न है। चौपाइयों को गाकर प्रस्तुत करने की विविध शैलियाँ हैं जिनके कारण इनका माधुर्य और भी बढ़ गया है। निश्चय ही तुलसी की काव्य कला में मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता, स्वाभाविकता, उदात्तता, कलात्मकता इत्यादि गुण विद्यमान हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने प्रयत्न साध्य रूप में नहीं अपितु अप्रत्यक्ष रूप में काव्य लक्षण का निर्धारण किया है। इन्होंने रामचरितमानस के पहले श्लोक में मंगलाचरण करते हुए वर्ण, रस, छंद का निरूपण किया है। इनके अनुसार वर्ण और अर्थ से युक्त रचना रस तथा छंद के विधान से मंगलकारिणी काव्य बन जाती है-

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि। मंगलां च कर्तारौ वंदे वाणी विनायकौ।।

इस तरह गोस्वामी तुलसीदास काव्य तत्वों में वर्ण, अर्थ, रस, छंद और मंगल को स्वीकार किया है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्यलक्षण में शब्द-अर्थ तथा वाक्य की चर्चा की है। तुलसी ने शब्द और वाक्य के स्थान पर वर्ण की कल्पना करके अधिक सूक्ष्म विवेचन का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

प्राचीन आचार्यगण काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा, व्यूत्पत्ति तथा अभ्यास की गणना करते हैं। प्रतिभा के अभाव में काव्य सृजन संभव नहीं है। अभिनव गुप्त ने प्रतिभा को 'अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा' तथा भट्टतौत ने 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' कहकर व्याख्यायित किया है। इसके अतिरिक्त व्यूत्पत्ति में लोक-शास्त्र के निरीक्षण को भी मिश्रित किया गया है। निरंतर काव्यरचना में बार-बार प्रवृत्ति ही अभ्यास है। अभ्यास के द्वारा ही उत्तरोत्तर उत्कृटता व गुणवर्धन संभव है। तुलसी ने भी प्रतिभा, व्यूत्पत्ति और अभ्यास तीनों को समन्वित रूप में काव्य हेतु स्वीकार किया है-

सारद दाह नारी सम स्वामी। रामु सूत्रधार अंतरजामी।।

जेहिं पर कृपा करहु जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहुँ बानी।।

तुलसी ने अन्यत्र काव्यहेतुओं में व्यूत्पत्ति की चर्चा की है। वे स्वयं व्युत्पत्ति का अभाव स्वीकार करते हैं-

१) कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुण गावौं।।

२) कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।।

काव्य प्रयोजन का विवेचन करते हुए आचार्य मम्मट ने यश, अर्थ, लोक व्यवहार, अशुभ से रक्षा, सद्य: परिनिवृत्ति व उपदेश को स्वीकार किया है-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे।।

काव्य प्रयोजन का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जाता है-

१) कवि व पाठक की दृष्टि से-

- कविनिष्ठ प्रयोजन
- सहृदयनिष्ठ प्रयोजन

२) प्रधानता के आधार पर

- मूल प्रयोजन
- गौण प्रयोजन

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के आरंभ में ही मुख्य प्रयोजन स्वांत:सुखाय तथा गौण प्रयोजन प्रबोध को स्वीकार किया है-

१) स्वांत:सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति।

२) भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।।

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी।।

सहृदय पाठक या भावक की दृष्टि से तुलसी दो काव्य प्रयोजन मानते हैं-

१) कवित रसिक न रामपद नेहू। तिन्हकहँ सुखदधाम रस एहूँ।

२) रिद्धि सिद्धि कल्याण सकल नर पावई। सुनहिं विमुक्त विरक्ति अरु विषयी।।

वे काव्य के माध्यम से सर्वजनहिताय की कामना व्यक्त करते हैं-

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।।

तुलसी संत को सुजन, रसिक, बुध, संत, सज्जन, सहृदय इत्यादि शब्दों से पुकारते हैं। काव्यशास्त्र में नायक, कवि अथवा श्रोता में अनुभव की समानता की दृष्टि से सहृदयता को काव्यप्रयोजन मानते हैं। आचार्य आनंदवर्धन ने भी सहृदयता को रसज्ञता का पर्याय माना है। तुलसी काव्य में रस तथा अवयवों का निरूपण उदाहरण सहित मिलता है।

साहित्यिक रसों की संख्या परंपरागत रूप में नौ मानी गई है। रसों में वे भक्ति की भी गणना करते हैं। कतिपय आचार्य नाटक के संदर्भ में शांत रस को उपयोगी न मानकर आठ रस मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास नौ रस मानते हैं-

नवरस जप-तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।।

तुलसीदास शांत रस का भी उल्लेख करते हैं-

बैठे सोह कुमारिपु कैसे। धरे शरीर शांत रस जैसे।।

तुलसी द्वारा वीर रस एवं उसकी निरूपण शैली के विषय में लिखा है कि- “वीर रस का वर्णन कौशल उन्होंने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है – प्राचीन राजपूत काल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी शैली के भीतर, इधर के फुटकर कवियों की दण्डक शैली के भीतर,और अपनी निजी की गीतिका वाली शैली के भीतर।”[9]

साहित्याचार्यों ने भक्तिरस का रसत्व स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भक्ति को भाव या अनुभाव के अंतर्गत मान्यता प्रदान की है। कहीं पर शांत रस में भी अन्तर्भुक्त कर दिया गया है। कुछ आचार्य भक्ति को रति का विशेष प्रकार मानते हैं। मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी, आदि वैष्णव आचार्य भक्ति को रस की कोटि में स्थापित करके उसे अंगीरस की मानते हैं-

१) पूनो प्रेम भगति रस हरि रस जानहिं दास।

२) राम भगति रस सिद्ध हित भा, यह समउ गनेस।।

तुलसी भक्ति का रसत्व ही नहीं स्वीकार करते हैं, उसे नवरसों में सर्वश्रेष्ठ बताते हैं।

तुलसी काव्य रचना में अलंकार को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। किंतु वे अलंकार को काव्यात्मा का स्थान नहीं देते-

बसन हीन नहिं सोह सुरारी।सब भूसन दूषित न।।

ध्वनि सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में प्राणतत्व माना जाता है। इसने अलंकार, रस, रीति, गुण सबको अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया है। ध्वनि को उत्तम काव्य माना जाता है। ध्वनि के न्यून होने पर काव्य की श्रेष्ठता भी न्यून हो जाती है। तुलसी ने काव्य सिद्धांत में ध्वनि का भी उल्लेख किया है-

धुनि अविरेब कवित गुन जाती।

तुलसी का काव्य ध्वनि काव्य है क्योंकि उसमें वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण तथा आह्लादक है।

तुलसी ने रामचरितमानस में वक्रोक्ति के लिए अविरेब शब्द प्रयुक्त किया है। वक्रोक्ति में तुलसीदास को कुंतक द्वारा प्रतिपादित वक्रता ही वरेण्य है। तुलसी काव्य में कुंतक द्वारा प्रतिपादित वक्रता के छहो भेद दिखते हैं। ध्वनि सिद्धांत में वक्रोक्ति के समस्त भेद समाविष्ट कर लिए गए हैं। काकुवक्रोक्ति का सुंदर उदाहरण द्रष्टव्य है-

मैं सुकुमार नाथ वन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।

तुलसी काव्य में गुण-दोष निरूपण का भी स्थान है। वे काव्य को दोषरहित रखने का संकल्प व्यक्त करते हैं-

बंदौ मुनि पद कंज, रामायण जेहिं निरमयउ।

सरवर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषनसहित।।

डॉ० शिवकुमार मिश्र लिखते हैं- "समग्रत: भावजगत की जिस केन्द्रीयता के नाते कविता को 'भावयोग' कहा गया है, गोस्वामी जी उस भावजगत के अद्भुत चितेरे और पारखी हैं।काव्य पंडित उनकी कविताओं में, इसके बावजूद दूषण पाएँ, वह अलग बात है, तुलसीदास निर्विवाद रूप से न केवल मध्ययुगीन भक्तिकाव्य के, वे समूची हिंदी कविता में बड़ी हैसियत के कवि हैं- महत् कविता के स्रष्टा, उसके मानक।"[10]

वस्तुत: तुलसीदास का साहित्यचिंतन व्यापक और गहन है। उनकी रचनाओं के अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है। उनकी रचना में काव्य के तत्व व मान्यताएँ सहज विन्यस्त हैं। उनके काव्यांग निरूपण में हठ कहीं दृष्टिगत नहीं होता है।

निष्कर्ष:-

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है कि कबीरदास और तुलसीदास न केवल भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं, बल्कि वे इस युग की काव्यपरंपरा के सशक्त प्रवक्ता और दार्शनिक आधारशिला भी हैं। इन्होंने अपने-अपने काव्य में जिस प्रकार से भक्ति, समाजचेतना, अध्यात्म और जीवन-दृष्टि को स्वर प्रदान किया है, वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। इनकी रचनाओं में काव्यतत्वों का संयोजन केवल बाह्य सौंदर्य या अलंकारिकता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह आंतरिक, अंतर्वर्ती स्तर पर भाव और अनुभूति की गहराई से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि इनकी काव्य-दृष्टि और अभिव्यक्ति-शैली ने भक्तिकालीन अन्य संत-कवियों को ही नहीं, अपितु परवर्ती रीतिकाल और आधुनिक काल के अनेक कवियों को भी गहराई से प्रभावित किया है। कबीर की अनुभूति-

प्रधान निर्गुण भक्ति और तुलसी की लोकजीवन से जुड़ी सगुण रामभक्ति दोनों ही दिशाएँ, हिंदी काव्य परंपरा में दो समानांतर धाराओं के रूप में विकसित होती हैं, जो अंततः एक ही आध्यात्मिक-सामाजिक चेतना में समाहित हो जाती हैं।

आज के आत्मकेंद्रित, विषय-वैविध्य और शिल्प प्रयोगधर्मी काव्य-प्रयासों के संदर्भ में भी कबीर और तुलसी की काव्य-दृष्टि अत्यंत प्रासंगिक है। इन्होंने कविता को केवल सौंदर्य-प्रदर्शन या वैचारिक अभिव्यक्ति का माध्यम न मानकर, उसे एक जीवंत अनुभूति और जनचेतना का संवाहक रूप प्रदान किया। अतः इनकी काव्य-विषयक अवधारणाएँ आधुनिक कवियों के लिए न केवल प्रेरणास्रोत हैं, बल्कि एक व्यावहारिक मार्गदर्शन भी प्रदान करती हैं।

संदर्भ सूची:-

1. कबीर-वाणी-सुधा, डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, राका प्रकाशन, प्रयागराज, पृ॰ 102.
2. कबीर दर्शन, अभिलाष दास, कबीर पारख संस्थान, प्रयागराज, पृ॰-104.
3. प्रस्तावना: कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज , पृ॰44.
4. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ॰ 67.
5. अकथ कहानी प्रेम की, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ॰ 395.
6. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, पृ॰ -266.
7. कबीर मीमांसा, रामचंद्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, , प्रयागराज पृ॰-143.
8. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रिया प्रकाशन, पृ॰- 83.
9. त्रिवेणी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पृ॰- 97.
10. भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पृ॰-233.